

जैन धर्म में तप का महत्व

• श्री चाँदमल बाबेल

धर्मः मंगल मुत्कृष्टं, अहिंसा संयम तपः।
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः॥
श्रमण सुत।

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा संयम और तप उसके लक्षण है जो इस धर्म में लगा रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। भगवान महावीर की वाणी को भी आचार्य शंयम्भव ने इन्हीं शब्दों में सूत्र दशवैकालिक में संकलित की है। अर्थात् तप का उसी प्रकार महत्व है जितना अहिंसा एवं संयम का।

“तवसा घुणइ पुराण पावगं” दशवैकालिक

तपस्या द्वारा प्राचीन पाप नष्ट किये जाते हैं। यदि तप का आचरण नहीं हो और यथेच्छ खानपानादि एवं शब्दापि विषय चलते रहे तो संयम भी सुरक्षित नहीं रह सकता। संयम की सुरक्षा एवं वृद्धि के लिये तप रूपी कवच प्रबल साधन है। यह तप आत्मशुद्धि का प्रबल साधन है। इसके द्वारा आत्मा प्रपंच पंक से बाहर होकर सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो जाता है।

आज विश्व में दो प्रकार के विचार धारा प्रचलित हैं। एक आध्यात्मिक और दूसरी भौतिक एक अंतर्मुखी और दूसरी बहुमुखी एक इहलौकिक तो दूसरी पारलौकिक, एक देहपोषक तो दूसरी आत्मपोषक भौतिक विचार धाराओं की मान्यता eat drink & be marry खाओं पीओं और मौज करो।

यावत् जिवेत् सुखम् जीवेत् ऋणम् कृत्वा घृतं पिवेत।

भस्मी भूतस्य देहत्य, पुनरागमनं कुतः (“चार्वाक”)

चार्वाक विचारधारा केवल इस भौतिक शरीर को सुरक्षा, आभिवृद्धि पर ही ध्यान देती है केवल इसी जन्म को स्वीकार करती है किंतु जैन दर्शन में तप को अधिक महत्व दिया है। संवर से मुख्यतः आश्रव की रोक होती है किंतु पुराने कर्मों की निर्जरा नहीं। आत्मा के साथ पूर्व में बंधे हुए कर्मों को तोड़कर अलग करने का उपाय तो मुख्यतः तप ही है।

जहा महातलागस, संतिसूदे जलागमे।

उस्सिचणाए तवणाए, कमेणं सोसण भवे।

एवं तु संजयस्सवि, पावकम्मनिरा सवे।

भव कोडि संचिय कम्मं तवसा णिज्जारेज्जई॥

• उतराध्ययन सूत्र

जिस प्रकार बड़े भारी तालाब को खाली करने के लिये पहले उसके पानी के द्वारों को बंद करके बाहर से आने वाले पानी को रोकने की आवश्यकता रहती है। उसके बाद तालाब में पहले भरे हुए पानी की निकालने की प्रक्रिया होती है। जिसमें सिंचाई से एवं सूर्यादि के ताप से क्रमशः सूख जाता है। इसी प्रकार संयमी पुरुष पहले संवर द्वारा नये कर्मों की आवक को रोक देता है। और बाद में अपनी आत्मा में करोड़ों भवों के संग्रह किये हुए कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षय कर देते हैं।

*तपस्या का प्रतिफल बताते हुए इस प्रकार कहा है।
तवेणं भंते। जीवे किं जणयइ? तवेणं वोदाणं जणयइ।*

• उतराध्ययन

प्रश्न - हे भगवान! तप से किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर - तप से व्ययदान = पूर्व के बंधे कर्मों की निर्जरा होती है।

तप का आचरण पूर्व के सभी महापुरुषों ने किया है। भगवान ऋषभ देव के समय एक वर्ष तक तप किया जाता था। मध्य तीर्थकरों के समय आठ माह तक भगवान महावीर के समय ६ महिने तक का तप किया जाता था। स्वयं भगवान ने भी ६ मास का तप किया था। वास्तवमें तप से आत्मा शुद्ध और पवित्र होती है।

*सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वाहिनी यथा।
तपोऽग्निता तप मनस्तथा, जीवो विशुध्यति॥*

• आचार्य हेमचंद्र

जैसे मिट्टी से लिप्त सोना अग्नि में तप कर शुद्ध बन जाता है। इसी प्रकार तप रूपी अग्नि में तप कर आत्मा विशुद्ध हो जाता है। क्योंकि आत्मा अनंत काल से क्रोधादि कषाय एवं काम विकारों से अशुद्ध है। यह अशुद्धता वैभाविक है। अतः स्वाभाविक स्थिति में लाने हेतु तप को प्रमुख माना है।

चरितेण निगिण्हाई तवेण सुज्झई

• उतराध्ययन सूत्र

चरित्र में आने वाले कर्मों को रोका जाता है। किंतु तप से विगत जन्मों के एकत्र पाप को क्षय किया जाता है जिस प्रकार तप रूपी धर्म, एक ओर संयम की रक्षा करता है तो दूसरी ओर आत्मा की सफाई करता हुआ निर्मल बनाता है। अन्तर्मन की शुद्धि तप से ही होती है।

इच्छा निरोध स्तपः

तप से विषय वासनाओं का निरोध होता है अतः तप का काम भौतिक इच्छाओं का निरोध करना

है। भगवान महावीर ने वासना जन्य विकार को नष्ट करने के लिये तप रूप महाऔषधि सेवन करने का विधान किया है।

उवाहिज्जामाणे गामधम्मोहि अवि णिव्वलासए अवे
ओमोयरियं कुज्जा अवि उडुं ठाणं टाइज्जा आवे गामाणुगामं
दुइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अविचयइत्थिसुमणं

• आचारांग

साधु इंद्रियों के विषयों से विकार ग्रस्त बन रहा हो तो उस विकार को नष्ट करने के लिये रूखा सूखा और सत्वरहित वस्तु का आहार करे या अहार कम करे अथवा कायोत्सर्ग करे, शीत ताप की आतापना ले, ग्रामानुग्राम विहार करे, यदि इससे विकार भी नहीं मिटे तो आहार का सर्वथा त्याग कर दे किंतु स्त्रियों की ओर मन को नहीं जान दे।

तप की परिभाषाओं से तप का महत्व स्वतः ही प्रकट हो जाता है।

तप्यते अवेण पावं कम्ममिति तपो

• निशीथचूर्णिभास्य

जिस साधना से पाप कर्म तप्त हो जाता है वह तप है।

तप्यते कर्माणि अनेन इतितपः

जिसके द्वारा कर्म तपाये जाय वही तप है।

तवोणाम तावयति अट्टविह कम्मगठि नासे तिति वुतंभवई जो आठ प्रकार की कर्म ग्रंथी को तपाता है अर्थात् आठो कर्मों को नष्ट करता है, भस्म सात करता है वह तप है।

तप एक दिव्य ज्योति है जो कि हृदय में प्रकाश ला देता है। तप वही है जिसके द्वारा तन मुझाए किन्तुमन हषयि

सोनाम अणसण त्वां, जेण मणों मगुलं न चितेई

जेण इंद्रियहाणी, जेण य जोगा न हायंति

वही तप श्रेष्ठ है जिससे मन अमंगल न सोचे इंद्रियों को हानिन हो, नित्य प्रति के योग धर्म क्रियाओं में विघ्न न आये। तप से प्रसन्नता बनी रहे। तप जो भी किया जाए वह विशुद्ध भावों से मात्र कर्म निर्जरा के लिये ही करना चाहिये। इसके लिये किसी प्रकार की दूसरी भावना नहीं होनी चाहिये अन्यथा तप शस्त्र बन कर अपने आपके लिये घातक बन जाता है। चण्डकौशिक सर्प पहले एक तपस्वी संत ही था। बह्मदत्त चक्रवर्ती ने पूर्व भव में तप का दुरुपयोग किया और सातवीं नरक में गया। जितने भी वासुदेव होते हैं वे सब नरक में जाते हैं। इसका मूल कारण तप का दुरुपयोग है। तप रूपी महारसायन संयम और क्षमारूपी पथ्य सेवन से ही आत्मा को पुष्ट कर के अनंत सुख प्रदान करने वाली होती है।

यदि कषाय अथवाय क्षाणिक रूपी कुपथ्य का सेवन किया तो यही रसायन क्षणिक इच्छा पूरी कर के महान दुःखदायक बन जाती है।

तप का ढोंग बड़ा खतरनाक होता है आगमकार उसे तप चोर कहते हैं।

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे य जेनेरे। अयार भावतेणे

य, कुव्वई देवकिव्विसं

• दशवै कालिक

जो साधु तपचोर, व्रतचोर, वचनचोर, रूपचोर और आचार भाव का चोर होता है वह नीच जाति के देवों में उत्पन्न होता है। तथा वहां से चलकर भेड बकरा होता है इसके बाद नरक गति प्राप्त कर दुखी होता है। तप चोर के विषय में और भी बताया है।

अतवस्सी य जे के इ तवेण पविकत्थइ।

सव्वलोए वरे तेणे महा मोहं पकुव्वइ

• दशाश्रुतस्कन्ध

जो तपस्वी नहीं होता हुआ भी अपने आप को तपस्वी के रूप में उपस्थित कर सम्मान प्राप्त करता है वह महा मोहनीय कर्म का बंध करता है।

तप एक प्रकार की दया है। सुख दुःख का अनुभव आत्मा करती है, शरीर नहीं, शरीर अधिष्ठाता आत्मा है। आत्मा सर्दी गर्मी भूख प्यास सहने करने में प्रसन्नता अनुभव करता है उस प्रसन्नता को बढ़ाना तप है। क्रोध, लोभ मोह, स्वार्थ वश शारीरिक कष्ट सहा जाता है बिना ज्ञान के खुद कष्ट में पहुँचता है, दूसरो को कष्ट देना तप के नाम पर ताप है। इसके विपरीत स्वार्थ से दूर होकर ज्ञान भाव को जगाकर वृत्तियों को वश में करना शरीर का कष्ट सहन करते हुए मन में उल्लास भाव रखना विषय कषाय वृत्तियों को ढीली पटकना ताप है। तप के बाद उदासीन न होकर उमंग हर्ष की लहर आनी चाहिये तप का लक्ष्य कर्म बंधन काटना है।

तपस्या जो भी की जाय वह विशुद्ध भावों से, मात्र कर्म निर्जरा के लिये ही करनी चाहिये। इसके लिये किसी भी प्रकार की दूसरी भावना नहीं होनी चाहिये। तप समाधि है, यह समाधि चार प्रकार की होती है।

नो इह लोग्गठायए तव महिठ्ठिज्जा

नो पर लोग्गठायए तव महिठ्ठिज्जा

नो कितिवण्णछसिसे लोग्गठायए तव महिठ्ठिज्जा

नत्तथ गिज्जरठायए तव महिठ्ठिज्जा

• दशवैकालिक

इस लोक संबंधी सुखों की कामना से तपस्या नहीं करें, परलोक में प्रचुर वैभव और उतमोत्तम भौतिक सुखों की चाहना रखकर तप नहीं करें, अपनी प्रशंसा हो इस भावना से, कीर्ति की लालसा से, जनता में यशोगान करवाने और धन्यधान्य कहलाने के लिये तप नहीं करें, किंतु केवल एक मात्र अपने कर्मों को निर्जरा लिये तपस्या ही करें।

और भी इस प्रकार बताया गया है:-

विविहगुणतवोरए णिज्चं, भवइ निरासएणिज्जरड्डिए अर्थात् मोक्षार्थी को मन में इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की आशा नहीं करते सदैव तप समाधि में संलग्न रहे और विविध गुणों से युक्त तप में निरंतर लगा रहे जिस प्रकार उत्तम फल की प्राप्ति के लिये भूमि भी उत्तम होनी चाहिये उत्तम भूमि में ही उत्तम फल का बीज अंकुरित होता है और फलता फूलता है उसी प्रकार तप के यथार्थ फल के लिये मनरूपी क्षेत्र विशुद्ध करना चाहिये। तभी कर्मों का क्षय होकर मोक्ष फल की प्राप्ति होती है। अर्जुन माली एवं धन्नाअनगार की तरह तप करने से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है।

जस्सवि अदुप्पाणि हि आहोतिकषायातवं चरंतस्स
सोबाल तवस्सीवि वगयणहाण परिस्समं कुणई

• आचार्य भद्रबाहु

जिस तपस्वी ने कषायों को निगूहित नहीं किया वह बाल (अज्ञानी) तपस्वी है उस तपस्वी का कार्यक्रम हाथी के स्नान की तरह निरर्थक है। जैन दर्शन अज्ञान तप को स्वीकार नहीं करता है।

“नहु बाल तवेण मुक्खुति”

• भद्रबाहु

बाल तप से कभी मुक्ति नहीं मिलती है। बाल तप से कर्मों की निर्जरा नहीं होती है।

जं अनाणी कम्मं खवेई, बहुयाहिं वाताकोडिहि
तंणाणि तिहिं गुतो, खवेई उसास मितेणं

हजारों वर्षों तक तप करने पर भी अज्ञानी जितने कर्मों को क्षय नहीं कर पाता उतने कर्मों को एक ज्ञानी कुछ ही समय में नष्ट कर देता है। अतः तप करने में इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

निदोष निर्विदानाढयं तंमिर्जरा प्रयोजनम्
चितोत्साहेन् सद बुद्धया तपनीयंतः शुभम्

निदोष कामना रहित केवल निर्जरा के लिये सद्बुद्धि के साथ दिल के उत्साह से तप करना शुभ एवं प्रशस्त तप माना गया है।

तप के साथ अपनी पवित्र भावना भी बननी चाहिये तभी कल्याण हो सकता है अन्यथा केवल भूखे मरना ऋषियों ने अपनी वाणी में इस प्रकार बताया है।

“कषायां विषयांहाराणां, त्यागो यत्र विधिपते
उपवासः सविज्ञेयः शेष लंघनकं विंदुः”

कषाय, विषय, आहार त्याग हो उसे तप समझना चाहिए अन्यथा केवल लंघन मात्र है अतः जीवन में जागरूकता की आवश्यकता है तथा इसी से जीवन की कठिनाइयों को पार किया जा सकता है।

“यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गमं पच्च दुष्करम्
सर्वं तुतपता साध्यं तपो हि दुरुति क्रयम्॥

जो दुर्गम और दुष्कर, जिसे प्राप्त करना कठिन है वह भी तप के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। निश्चित तप के प्रभाव से सब कठिनाइयों को पार किया जा सकता है। द्वारिका का विनष्ट तप के खंडित होने से हुआ था - रात्रि भोजन छोड़ने पर आधे दिनों का तप हो जाता है जैसे एक माह तक रात्री भोजन त्याग से १५ दिन की तपस्या हो जाया करती है। तप निष्कपट भाव से होना चाहिये अन्यथा मल्लीनाथ की तरह स्थिति बन जाती है क्योंकि उन्होंने कपट व्यवहार से तप किया था अतः निष्कपट भाव से तप ही सही कर्मों की निर्जरा में सहायक हो जाता है।

तप करने से तो कर्मों की निर्जरा होती है किंतु तप की अनुमोदना से भी अच्छा प्रतिफल मिल जाता है।

जहा तवस्ती घुणतेतवेण कर्मं तहाजाण तवोऽणुमंता

• वृहदकल्पभाष्य

जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा कर्म को घुन डालता है वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी निर्जरा कर सकता है।

जिस प्रकार हंस दूध और पानी को अलग अलग करता है उसी प्रकार तप आत्मा और कर्म के आवरण को अलग अलग कर देता है।

जैन धर्म में तप के अनेक भेद बताये गये जैसे उवई सूत्र में कुल ३५४ भेद है किंतु मोटे रूप से भेद इस प्रकार है।

सोतवो दूविहो वुतो बाहिरब्भंतरोतहा
बाहिरो छःव्वि हो वुता एवमव्यितरो तवो

इस प्रकार भगवान महावीर ने तप से मुख्य दो भेद किया है (१) बाह्य तप (२) आभ्यंतर तप बाह्य तप के ६ भेद इस प्रकार है।

(२४२)

(१) अनशन :- अन्न, पान, खाद्य स्वाद्य का थोड़े समय तक त्याग करना या जीवन पर्यन्त त्याग करना।

(२) ऊनोदरी :- वस्त्र पात्र कम रखना भिक्षा कम लेना अल्प क्रोध मान माया लोभ करना अहारादि सामग्री में कमी करना, आदि सब ऊनोदरी तप है।

(३) भिक्षाचरी :- अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण कर भिक्षा लेना, इससे आहार प्राप्ति में कठिनाई होनी है भूख प्यास परिश्रम की परवाह नहीं करके भिक्षाचरी करने वाले निर्ग्रन्थ अर्थात् कोटि के होते हैं।

(४) रस परित्याग :- खाते पीते हुए भी रस लोलुपता का त्याग करना शिष्यों का त्याग करना।

(५) काया क्लेश :- एक ही स्थान पर स्थिर होकर ८४ प्रकार के आसन साधु की १२ पडिमा आतापना वस्त्र रहित, कठोर वचन सहना, गाली मार प्रहार सहना, लोच करना नंगे पैर चलना आदि।

(६) प्रति संलीनता :- इंद्रियों को वश में रखना अनुकूल प्रतिकूल शब्दादि पर राग द्वेष न करना।

बाह्य तप की तरह आभ्यन्तर तप के भी छः भेद हैं।

(१) प्रायश्चित्त :- चरित्र में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिये जो शुद्धि की जाती है इस शुद्धि करने लिये प्रायश्चित्त लिया जाता है।

(२) विनय :- जिस के द्वारा आत्मा के कर्म रूपी मैल को हटाया जा सके उसे विनय कहते हैं। यह गुण और गुणों के पात्र की भक्ति, आदर एवं बहुमान करने से होता है।

(३) वैयावृत्य :- गुरु तपस्वी, वृद्ध आदि साधु की आहार पानी, आदि से सेवा करना और संयम पालन में सहायता देना वैयावृत्य तप है।

(४) स्वाध्याय :- भावपूर्वक, अस्वाध्याय के कारणों को टालकर आगमों का स्वाध्याय करना, अध्ययन करना स्वाध्याय नाम का तप है।

(५) ध्यान :- किसी एक वस्तु अथवा विषय पर चित्त को लगा देना-एकाम्र कर देना ध्यान कहलाता है।

(६) व्युत्सर्ग :- अंतकरण से ममत्व रहित होकर, आत्म सांनिध्य से पर वस्तु का त्याग करना व्युत्सर्ग का तप है।

सी. ४६ डॉ. राधाकृष्णन् नगर
भीलवाड़ा (राज.)

३११००१

* * * * *

(२४३)